प्रफुल्ल कोलख्यान

श्रद्धा से तिकड़म का नाताः पियो संत हुगली का पानी

हिंदी के बड़े कवि त्रिलोचन शास्त्री की अध्यक्षता में ‘समकालीन हिंदी कविता में युवा हस्तक्षेप’ पर एक छोटी-सी गोष्ठी कोलकाता के जीवनानंद सभागार में आयोजित हुई थी। इसमें सवाल उठा कि बांग्ला के आधुनिक साहित्य की तरह आधुनिक हिंदी साहित्य हिंदी जनता के संस्कारों से क्यों जुड़ नहीं पाया या पा रहा है। इस संदर्भ का एक सवाल वर्त्तमान साहित्य के शताब्दी कविता विशेषांक में उसकी साक्षात्कार शृँखला में भी उठाया गया है। लेकिन विमर्श के इस क्रम को आगे बढ़ाने के अनुवर्त्ती प्रयास के अभाव में यह औपचारिकता का निर्वाह मात्र बनकर रह गया, हिंदी सेवियों और सेवकों की संवेदना का अंग नहीं बन पाया। अमृत और विष को विलगाकर पाने के लिए सागर-मंथन की मिथिकीय प्रक्रिया की बात तो अपनी जगह है,अनुभव बताता है कि दूध से मक्खन भी एक ही बार मथानी घुमाने से नहीं हासिल होता है। अनुभव तो यह भी बताता है कि पुरूषार्थ और पराक्रम की पराकाष्ठा के बावजूद पानी को मथने से मक्खन नहीं हासिल होता है !

विषय को उत्थापित करने की दृष्टि से उत्तेजना की अपनी सीमित भूमिका तो हो सकती है लेकिन उत्तेजना ही अगर विमर्श का नियमन और शासन भी करने लगे तो विमर्श के विचलन का संकट उत्पन्न हो जाता है। हिंदी साहित्य के सामाजिक संदर्भ पर सोचनेवालों को हिंदी साहित्य की लोक संपृक्ति के अभाव के कारणों की खोज करनी चाहिए। इस खोज में जोखिम हैं। कुछ अप्रिय सवालों से टकराना पड़ सकता है और अहितकर प्रसंगों से जोड़ दिये जाने का भी खतरा है। मृत शिशु को छाती से चिपकाये रखनेवाली बंदरिया के मनोभाव से ग्रस्त अपनी मनोगत छवि को ही सामाजिक पूँजी मानने और उसी से प्रतिबद्ध विद्वजनों का ऐसे सवालों से कन्नी काटना समझ में आता है। ऐसे सवालों से सही मायने में वही जूझ सकता है जो हिंदी बौद्धिकता की गंगा में नंगा नहाने की स्थिति में होने के कारण निचोड़ने की समस्या से फिलहाल मुक्त हो। अनुभव सिद्ध और इतिहास प्रसिद्ध बात है कि जोखिम उठाकर नई पहल वही कर सकता है जिसके पास, कम-से-कम एहसास के स्तर पर, खोने को कुछ न हो और पाने को सारा जहाँ हो। भयावह यह है कि एहास एवं समझ के स्तर पर लब्ध-प्रतिष्ठित हिंदी बौद्धिकों के पास ही नहीं अभी-अभी भूमिष्ठ होकर पालने में पाँव दिखाते चिकने पातवाले हिंदी साहित्य के होनहार-वीरवानों के पास भी निजी स्वप्न, समीकरण और संभावना की दृष्टि से खोने को सब कुछ है और पाने को कुछ भी नहीं

है। जाहिर है, संक्रमण की ऐसी कठिन घड़ी में सबसे सुरक्षित नीति, तेल और तेल की धार देखने की ही होती है।

विचार यहाँ से किया जाना चाहिए कि अगर रवींद्रनाथ ठाकुर या जीवनानंद दास आदि की रचना एक ऐसी भाषा में सामने आती जो भाषा अपने पृथक अस्तित्व के स्तर पर नहीं भी तो परिगठन की रूप-भिन्नता के स्तर पर ही उनके परिवार-गाँव -समाज में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न होती तो क्या उसका भी उनके परिवार-गाँव -समाज पर वैसा ही असर होता? या उसका वैसा ही जनजुड़ाव होता? इसके साथ ही यह भी कि पुनर्जागरण से हासिल सामाजिक-सांस्कृतिक पीठिका और परिणाम की सक्रिय उपस्थिति के बिना उनकी साहित्य-संवेदना की सामाजिक-सांस्कृतिक ग्रहणशीलता का वही भाव होता, जो है? यह भी कि क्या साहित्य के सामाजिक संस्कार बनने में साहित्य की एकल भूमिका होती है? बंगाली जातीयता के निर्माण के सामाजिक स्वप्न से जोड़े बिना न तो बांग्ला साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया समझ में आ सकती है और न ही बांग्ला के आधुनिक साहित्य के संस्कार की सामाजिक स्वीकृति और पैठ की ही बात समझ में आ सकती है। सिर्फ रवींद्र साहित्य या नजरूल साहित्य के सामाजिक संस्कार में स्वीकार पर बात करने से बात अधूरी रह जायेगी। इसे रवींद्र संगीत और नजरूल गीति से भी जोड़कर देखना आवश्यक है। ये बांग्ला के जातीय संगीत हैं। हमारा जातीय संगीत? शायद उसके पहले भी यह सवाल कि हमारी जातीयता? जातीयता और सामाजिकता के बाह्य-आंतरिक संबंधों के विभिन्न संस्तरों की जटिलताओं की संवेदना को विवेक-ग्राह्य बनाये बिना इस रहस्य को समझने की कोशिश खोपरे को खोले बिना नारियल को समझने का कपि प्रयास ही बन कर रह जायेगा। बांग्ला जातीयता, सामाजिकता, संगीत और साहित्य को शांति निकेतन में स्थित विश्वभारती की स्थापना और उसकी जीवंत जातीय उपस्थिति से भी जोड़ कर देखना चाहिए। हिंदी नवजागरण और आधुनिकता के अग्रदूत भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के मन में भी जातीय संगीत के संयोजन और हिंदी विश्वविद्यालय संस्थापन की इच्छा थी, जो उनके जीते जी पूरी नहीं हो सकी। हाँ बाद में, अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय (जो पहले कॉलेज था) और बनारस में हिंदू विश्वविद्यालय जरूर खुल गये। हिंदी या हिंदुस्तानी जातीयता को गठित नहीं होने देने या उसमें दो फाड़ हो जाने देने में इन विश्वविद्यालयों की भूमिका परीक्षणीय और शिक्षणीय भी है। कोई चाहे तो विभावना के समकालीन उत्तम उदाहरण महात्मा गाँधी के नाम पर अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के गठन के कारण-कार्यार्थ से भी सीख ही सकता है। व्यावहारिक स्तर पर इसके सर्वेसर्वा भी तो हिंदी समाज और साहित्य के हित में ही दुबले होते पाये जाते हैं। उनका दुख यह है कि कृतघ्न हिंदी समाज (!) जिस का खाता है उसी पर गुर्राता है, खाकर पत्तल में करें छेद की मानसिकता से ग्रस्त है। भला

बंदरबाँट के विरोध में खड़े और लपकने को आतुर बंदरों की जितनी पहचान उनको है, उतनी पहचान किसी और को क्या खाक होगी !

जब हम आधुनिक साहित्य पर बात करते हैं तो निश्चित रूप से हमें आाधुनिकता के अपने मिजाज को भी ध्यान में रखना चाहिए। आधुनिकता का जन्म ही प्रश्नाकुलता और किसी भी रूप में जारी अयौक्तिकता को विवेक के बल पर चुनौती देने के क्रम में हुआ। चुनौती देने के लिए शक्ति और शक्ति के लिए शिक्षा, संस्थान और संगठन चाहिए। यद्यपि निरक्षरता और मूर्खता पर्याय नहीं है तथापि हिंदी पट्टी में निरक्षरता तो एक समस्या है ही लेकिन उससे बड़ी समस्या है निरक्षराचार, यानी पढ़े लिखे लोगों में भी निरक्षर जैसा आचरण करने की प्रवृत्ति। इस में विश्वविद्यालयों की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता है, इसे कम करके आँकना भारी भूल होगी। विश्वविद्यालयें की भूमिका कैसी रही है? स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले अप्रैल 1930 में की गई प्रेमचंद की टिप्पणी आजादी की लड़ाई गौर करने लायक है। अजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं? इस पर विचार करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं : इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और युनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1968 में नामवर सिंह लिखते हैं सांस्थानिक दृष्टि से हिंदी आलोचना (इसमें साहित्य को भी शामिल समझना चाहिए) के विकास में विश्वविद्यालयों के स्वतंत्रयोत्तर हिंदी विभागों का कोई योगदान नहीं है...गुरू की चिंतन-परंपरा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरू सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं, वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा? महान जनतांत्रिक आकांक्षा के अनुरूप समानता का सम्मान करते हुए गुरू-शिष्य दोनों ही सेवक बनकर रह गये हैं! संगठनों की हालत कैसी है? एक नजर इधर भी डालते चलें । 1973 में बाँदा में लेखकों का एक सम्मेलन बुलाया गया था जिसमें सभी रंग के वामपंथी लेखक बुलाये गये थे। 1974 में नामवर सिंह ने एक लेख लिखा प्रगतिशील साहित्य धारा में अंध लोकवादी रुझान, इस लेख में नामवर सिंह की दो टिप्पणियों की ओर खासकर दिया जाना संदर्भानुसार है। पहली, टुटपुँजिया मध्यवर्गीय जलन अक्सर आपसी वैमनस्य को भड़काती रहती है जिसके कारण लेखकों के बीच न कोई संयुक्त मोर्चा बन पाता है और न संगठन ही चल पाता है। दूसरी, जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है। नामवर सिंह का संदर्भ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि ठीक इसके बाद आपातकाल की घोषणा होती है और सेंसरशीप से लेखकों का परिचय होता है। इससे व्यक्तिगत और सांगठनिक स्तर पर किस प्रकार निपटा जा सका यह भी ध्यातव्य होना चाहिए। क्या इस बात से असहमत हुआ जा सकता है कि आपातकाल की घोषणा और

सेंसरशीप ने आधुनिक हिंदी लेखकों की सामाजिक विश्वसनीयता और जन-अभिमुखता ,जो अभी नवांकुरावस्था में ही थी, को सदा के लिए दागी बना दिया? जातीय संकट के समय जिस साहसिक लेखकीय संवेदना की जरूरत होती है वह स्वाँग में ढल गया! राजनीतिक गलतियों को जनता जितनी जल्दी माफ करती है सांस्कृतिक चूकों को उतनी जल्दी भूल नहीं पाती है।

भाषा जितनी औपचारिक होती है उतनी ही जन-मन से दूर होती जाती है। हिंदी के विकासक्रम की ऐतिहासिकता ने उसे औपचारिक भाषा बनाया है। अपनी व्यापक ग्रामीण अस्मिता के अभाव और सांप्रदायिक दुरभिसंधियों में पड़कर हिंदी के हिंदुस्तानीपन के खो जाने के कारण ही अंतत: वह जमीन हिंदी के पैर के नीचे से निकल गई जिसे खड़ीबोली और उर्दू ने साथ मिलकर हासिल की थी। आजादी के बाद राजनीतिक कुचक्र में फँसकर हिंदी क्षेत्र की भाषा बँटकर चिर-स्थगन में पड़ गई। यह भाषिक विभाजन-स्थगन बहुत नुकसानदेह साबित हुआ। इस बात को समझना चाहिए। अनौपचारिक और आत्मीय होने के लिए हिंदी को अपने ग्रामीण भाषिक रूपों में बार-बार लौटना पड़ता है। किसी सार्वजनिक मंच पर भाखा-गीतों और कवित्तों की प्रस्तुति का प्रभाव पढ़ा जा सकता है। हिंदी की हालत अपनी सहायक नदियों के जलप्रवाह से वंचित गंगा की तरह होती गई है। ऊपर से सांस्कृतिक प्रदूषण का असर! अब गाँवों में भी शादी-व्याह के अवसरों पर चालू बंबइया फिल्मों की धुन पर गीत गाये जाते हैं! व्यक्ति-समाज-जातीयता एवं स्थानिकता और वैश्विकता के संतुलन बिंदु पर कायम रहकर ही साहित्य की संवेदना का प्रसार होता है। जिस सामाजिक-लोकेल में यह संतुलन बिंदु हुआ करता है, हिंदी कविता और साहित्य का वह सामाजिक-लोकेल ही खो गया है। इस लोकेल को ढूढ़ना बहुत जरूरी है। कुछ अपवादों की बात छोड़ दें तो, हिंदी-कवि अब संघर्षशील श्रम-सौंदर्य-चेतना की स्वरलिपि पढ़ पाने में असमर्थ होता जा रहा है। पसीने से अधिक मनभावन तो इत्र होता ही है! पता करना चाहिए कि हिंदी का हामिद अपने बचपन में तो ईद के मेले से चिमटा खरीदता है, लेकिन बड़ा होकर विश्व बाजार से वह क्या खरीदना चाहता है? वर्त्तमान साहित्य के शताब्दी कविता अंक में डॉ. शंभुनाथ की यह टिप्पणी गौर किये जाने लायक है कि कुछ कवियों को हिंदी में विश्व कविता लिखने का चस्का लग गया। .... पिछले पचास सालों की अच्छी कही जानेवाली हिंदी कविताओं में से एक बड़ा हिस्सा ऐसा है, जिनका भारतीय दुनिया (और हिंदी समाज) की विशिष्टताओं और विडंबनाओं से कोई संबंध नहीं है। विवेचनीय है कि हिंदी कविता छंद के छूटने से आत्म-खंडित हुई या सामाजिक संबंध के टूटने से।

हिंदी अहिंदी भाषी क्षेत्रों में, चाहे वे क्षेत्र भारत के अंदर हो या बाहर, कुलीनों के साथ नहीं कुली-मजदूरों के साथ ही फैली। सचमुच, हिंदी भाषा है उनकी जिनकी साँसों को आराम नहीं है। उन्हीं

के बीच उसकी सामाजिकता की खोज की जानी चाहिए। यह याद रखने की जरूरत इसलिए भी अधिक है कि पढ़ा-लिखा हिंदीभाषी समूह जितनी तेजी से अपनी सामाजिकता से कटा है उतनी ही तेजी से अंग्रेजियत के मोहपाश में फँसा है। डॉ.शंभुनाथ का यह मंतव्य सही प्रतीत होता है कि कविता में जातीय कावयात्मकता और कवि में जुझारू सामाजिकता की वापसी के बिना 21वीं सदी में कविता शायद ही साँस ले पाए। लेकिन मूल मुद्दा यह है कि वैश्वीकरण की तीव्र आँधी के इस युग में जातीयता, निजीकरण के इस हंगामेदार समय में बिलाती जा रही निजता और सामाजिकता तथा झुककर सलाम बजाने के इस युग में जुझारूपन हासिल कैसे किया जाये? क्या बाजारवाद की संस्कृति में, जहाँ रेंगने की ही गुंजाइश है, कुछ लोग हाथ में लुकाठी लेकर खड़ा होने का साहस जुटा पायेंगे? क्या हिंदी समाज श्रद्धा से तिकड़म का नाता तोड़ने का प्रयास कर पायेगा? सवाल यह भी है कि इस प्रयास में हिंदी साहित्य के युवा हस्तक्षेप की प्यासी पथरायी आँखें चौराहे के उस नुक्कड़ पर अपनी क्या भूमिका तय करती है? क्या नागार्जुन का तंज और उसके संकेत कि पियो संत हुगली का पानी, पैसा सच है दुनिया फानी अश्रुत ही रहेगा? क्या हिंदी समाज में कविता के संस्कार के प्रवेश की चिंता काव्य संकलन की बिक्री की चिंता से बहुत आगे की चिंता भी नहीं है? क्या हिंदी समाज का अधीर भविष्य इस सवाल के जवाब की प्रतीक्षा बहुत समय तक कर पाने की स्थिति में है?